औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श, बौद्धिक स्वराज और भारतीय ज्ञान-परंपरा

प्रोफेसर गोपाल कृष्ण ठाकुर*
*अधिष्ठाता, शिक्षा विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा- 442001, महाराष्ट्र, भारत.
ई-मेल: gkthakur11@gmail.com

DOI: doi.org/10.5281/zenodo.21212090
Accepted on: 28/09/2025 Published on: 10/10/2025

सारांश:

आधुनिक उपनिवेशवाद को सामान्यतः राजनीतिक प्रभुत्व, आर्थिक शोषण अथवा सैन्य विस्तार की ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है, किन्तु बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकसित उत्तर-औपनिवेशिक तथा डिकोलोनियल विमर्शों ने यह स्पष्ट किया कि उपनिवेशवाद का सबसे स्थायी प्रभाव ज्ञान की संरचनाओं, सांस्कृतिक स्मृतियों और बौद्धिक आत्मबोध पर पड़ा। औपनिवेशिक शासन ने केवल भू-भागों पर अधिकार स्थापित नहीं किया, बल्कि ज्ञान के उत्पादन, उसकी वैधता, उसके प्रसार तथा उसके मूल्यांकन के मानदण्डों को भी पुनर्परिभाषित किया। परिणामस्वरूप यूरोपीय ज्ञान-दृष्टि को सार्वभौमिक, वैज्ञानिक और आधुनिक घोषित किया गया, जबकि उपनिवेशित समाजों की ज्ञान-परम्पराओं को स्थानीय, पारम्परिक, अवैज्ञानिक अथवा मिथकीय मानकर हाशिये पर धकेल दिया गया। भारत भी इस ज्ञान की राजनीति से अछूता नहीं रहा। औपनिवेशिक शिक्षा-नीतियों, इतिहासलेखन, भाषायी वर्चस्व तथा अकादमिक संस्थाओं के माध्यम से भारतीय ज्ञान-परंपरा की वैधता पर प्रश्नचिह्न लगाए गए, जिसके प्रभाव स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भी शिक्षा, अनुसंधान और बौद्धिक जीवन में दृष्टिगोचर होते हैं (सईद, 1978/2003; फूको, 1980)।

प्रस्तुत आलेख औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श की वैचारिक संरचना का समालोचनात्मक विश्लेषण करते हुए भारतीय बौद्धिक स्वराज की अवधारणा को उसके प्रत्युत्तर के रूप में समझने का प्रयास करता है। आलेख का मूल तर्क यह है कि बौद्धिक स्वराज का अर्थ किसी प्रकार का ज्ञानात्मक एकान्तवाद अथवा पश्चिम-विरोध नहीं है; बल्कि इसका उद्देश्य ज्ञान की बहुलता, सांस्कृतिक आत्मविश्वास, आलोचनात्मक विवेक और वैकल्पिक ज्ञानमीमांसाओं की वैधता को पुनर्स्थापित करना है। इस संदर्भ में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, महात्मा गांधी, धर्मपाल तथा आशीष नंदी के विचारों का विश्लेषण समकालीन वैश्विक विमर्शों - जैसे ज्ञान-सत्ता, ज्ञान-उपनिवेशवाद, एपिस्टेमिक जस्टिस तथा ज्ञान-सम्प्रभुता - के आलोक में किया गया है। साथ ही यह भी प्रतिपादित किया गया है कि भारतीय ज्ञान-परंपरा का

पुनर्पाठ अतीत के अनालोचित महिमामण्डन के लिए नहीं, बल्कि समकालीन ज्ञान-विमर्श को अधिक बहुलतापूर्ण, संवादपरक और मानवीय बनाने के लिए आवश्यक है। इस दृष्टि से राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 तथा भारतीय ज्ञान परंपरा से जुड़े वर्तमान प्रयासों का भी आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

***प्रमुख शब्द**: औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श, बौद्धिक स्वराज, भारतीय ज्ञान-परंपरा, ज्ञान-उपनिवेशवाद, ज्ञान-सम्प्रभुता।*

भूमिका

मानव इतिहास में साम्राज्यों का निर्माण प्रायः राजनीतिक शक्ति, सैन्य सामर्थ्य और आर्थिक संसाधनों के विस्तार के माध्यम से हुआ है, किन्तु आधुनिक उपनिवेशवाद की विशिष्टता केवल इतनी नहीं थी कि उसने दूरस्थ भूभागों पर शासन स्थापित किया। उसकी वास्तविक शक्ति इस तथ्य में निहित थी कि उसने उन समाजों की ज्ञान-संरचनाओं को भी प्रभावित किया, जिन पर वह शासन कर रहा था। किसी समाज की भाषा, इतिहास, स्मृति, संस्कृति और ज्ञान-परम्परा केवल उसके अतीत का अभिलेख नहीं होती; वे उसके वर्तमान की आत्मचेतना और भविष्य की कल्पना का भी आधार होती हैं। इसलिए यदि किसी समाज पर दीर्घकालिक प्रभुत्व स्थापित करना हो, तो उसके ज्ञान के स्रोतों, उसकी बौद्धिक परम्पराओं और उसकी आत्मव्याख्या की क्षमता को नियंत्रित करना अत्यन्त प्रभावी साधन सिद्ध होता है। आधुनिक उपनिवेशवाद ने इसी रणनीति को अपनाया। इसी कारण बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उपनिवेशवाद के अध्ययन का केन्द्र केवल राजनीतिक इतिहास नहीं रहा, बल्कि ज्ञान, भाषा, प्रतिनिधित्व, संस्कृति और सत्ता के अन्तर्सम्बन्धों की ओर स्थानान्तरित हुआ। उत्तर-औपनिवेशिक चिन्तकों ने यह प्रतिपादित किया कि ज्ञान कभी पूर्णतः तटस्थ नहीं होता; वह विशिष्ट ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों में निर्मित होता है। जब कोई प्रभुत्वशाली सभ्यता अपने ज्ञान को सार्वभौमिक सत्य के रूप में प्रस्तुत करती है और अन्य ज्ञान-परम्पराओं को अविकसित, अवैज्ञानिक अथवा अपर्याप्त घोषित करती है, तब ज्ञान स्वयं सत्ता का उपकरण बन जाता है (फूको, 1980)। इस प्रकार उपनिवेशवाद केवल भूगोल का नहीं, बल्कि ज्ञान का भी पुनर्संगठन करता है।

भारतीय अनुभव इस प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। औपनिवेशिक शासन के दौरान शिक्षा, इतिहासलेखन, प्रशासन, भाषायी नीतियों तथा ज्ञान-संस्थाओं के माध्यम से भारत की ऐसी बौद्धिक छवि निर्मित की गई जिसमें भारतीय सभ्यता को मुख्यतः परम्परानिष्ठ, अवैज्ञानिक, भावनात्मक और स्थिर समाज के रूप

में प्रस्तुत किया गया, जबकि आधुनिकता, तर्कशीलता और वैज्ञानिकता का प्रतिनिधित्व यूरोप को प्रदान किया गया (कोहन, 1996)। इस प्रक्रिया का परिणाम केवल इतना नहीं हुआ कि भारतीय ज्ञान-परंपराएँ उपेक्षित हुईं; उससे भी अधिक गंभीर परिणाम यह था कि स्वयं भारतीय शिक्षित समाज का एक बड़ा वर्ग अपनी ज्ञान-परम्पराओं को पश्चिमी प्रतिमानों की कसौटी पर परखने लगा। राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद भी यह ज्ञानात्मक निर्भरता व्यापक रूप से बनी रही। इसी ऐतिहासिक और वैचारिक परिप्रेक्ष्य में **बौद्धिक स्वराज** की अवधारणा विशेष महत्त्व ग्रहण करती है। यह अवधारणा किसी प्रकार के ज्ञानात्मक अलगाव या सांस्कृतिक आत्ममुग्धता का समर्थन नहीं करती, बल्कि यह प्रश्न उठाती है कि क्या कोई समाज अपनी ऐतिहासिक स्मृति, अपनी भाषाओं, अपने अनुभवों और अपनी ज्ञान-परम्पराओं के आधार पर भी आधुनिक ज्ञान का सृजन कर सकता है? क्या वैश्विक ज्ञान-विमर्श में सहभागिता केवल पश्चिमी सिद्धान्तों के अनुकरण से ही सम्भव है, अथवा विभिन्न सभ्यताओं की ज्ञान-परम्पराएँ भी समकालीन बौद्धिक जीवन को समृद्ध कर सकती हैं? यही प्रश्न इस आलेख की आधारभूमि का निर्माण करते हैं।
इस अध्ययन का उद्देश्य किसी ज्ञान-परम्परा को दूसरी के विरुद्ध खड़ा करना नहीं है। इसके विपरीत, यह औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श की ऐतिहासिक संरचना का विश्लेषण करते हुए यह समझने का प्रयास करता है कि भारतीय बौद्धिक स्वराज और भारतीय ज्ञान-परंपरा समकालीन विश्व में ज्ञानात्मक बहुलता, आलोचनात्मक विवेक तथा अधिक न्यायपूर्ण वैश्विक ज्ञान-व्यवस्था की स्थापना में किस प्रकार योगदान दे सकते हैं। इस प्रकार यह आलेख अतीत के पुनर्स्मरण से अधिक भविष्य की ज्ञान-दिशा पर विचार करने का प्रयास है।

औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श : अवधारणा, उद्भव और वैचारिक आधार

आधुनिक सामाजिक विज्ञानों में यह व्यापक रूप से स्वीकार किया जाने लगा है कि ज्ञान केवल तथ्यों का निष्पक्ष संकलन नहीं होता, बल्कि वह विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों, सांस्कृतिक धारणाओं और सत्ता-संबंधों के भीतर निर्मित होता है। कोई भी समाज अपने अनुभवों, भाषाओं, विश्वासों, संस्थाओं और जीवन-प्रक्रियाओं के आधार पर ज्ञान का निर्माण करता है; अतः ज्ञान सदैव संदर्भ-सापेक्ष (contextual) होता है। किन्तु जब कोई प्रभुत्वशाली सभ्यता अपने अनुभवों को सार्वभौमिक सत्य के रूप में प्रस्तुत करती है और अन्य समाजों की ज्ञान-परम्पराओं को अपूर्ण, अविकसित अथवा अवैज्ञानिक घोषित करती है, तब ज्ञान स्वयं राजनीतिक शक्ति का उपकरण बन जाता है। इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया को आधुनिक बौद्धिक विमर्श में **औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श** (Colonial

Discourse of Knowledge) अथवा **ज्ञान-उपनिवेशवाद** (Epistemic Colonialism) के रूप में समझा जाता है (सईद, 1978/2003; क्विज़ानो, 2000)।

औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श का मूल उद्देश्य केवल उपनिवेशित समाजों का अध्ययन करना नहीं था। उसका उद्देश्य उन समाजों की ऐसी बौद्धिक छवि निर्मित करना भी था जो औपनिवेशिक शासन को स्वाभाविक, आवश्यक और वैध सिद्ध कर सके। इस प्रकार ज्ञान और शासन परस्पर पूरक बन गए। उपनिवेशित समाज को जितना अधिक 'पिछड़ा', 'अतार्किक', 'अव्यवस्थित' और 'सभ्यता से दूर' सिद्ध किया जाता, उतना ही अधिक औपनिवेशिक शासन स्वयं को 'सभ्यता', 'प्रगति' और 'आधुनिकीकरण' का वाहक घोषित कर सकता था। इसलिए आधुनिक उपनिवेशवाद का इतिहास केवल सेनाओं, संधियों और प्रशासन का इतिहास नहीं है; वह विश्वविद्यालयों, सर्वेक्षणों, अभिलेखों, शब्दकोशों, जनगणनाओं, संग्रहालयों और पाठ्यपुस्तकों का भी इतिहास है।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि **ज्ञान-विमर्श** (Discourse) का अर्थ केवल विचारों का संग्रह नहीं है। मिशेल फूको के अनुसार विमर्श उन नियमों, संस्थाओं, अवधारणाओं और भाषिक संरचनाओं का समुच्चय है जिनके माध्यम से यह निर्धारित किया जाता है कि किसी विषय के बारे में क्या कहा जा सकता है, किसे ज्ञान माना जाएगा और किसे अस्वीकार कर दिया जाएगा (फूको, 1980)। इस दृष्टि से ज्ञान किसी निष्पक्ष दर्पण की भाँति यथार्थ का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि वह स्वयं यथार्थ की सामाजिक व्याख्या का निर्माण करता है। अतः सत्ता और ज्ञान का सम्बन्ध बाहरी नहीं, बल्कि अंतर्निहित है। सत्ता ज्ञान का निर्माण करती है और ज्ञान सत्ता को वैधता प्रदान करता है।

औपनिवेशिक शासन ने इसी सिद्धान्त को व्यवहार में रूपान्तरित किया। भारत, अफ्रीका और एशिया के अन्य उपनिवेशों में स्थानीय समाजों का विस्तृत सर्वेक्षण किया गया; जातियों का वर्गीकरण हुआ; भाषाओं का पुनर्विन्यास किया गया; इतिहास को नई समय-रेखाओं में बाँटा गया; धार्मिक समुदायों की परिभाषाएँ निर्मित की गईं; और शिक्षा-व्यवस्था को इस प्रकार पुनर्गठित किया गया कि उपनिवेशित समाज स्वयं को औपनिवेशिक दृष्टि से देखने लगे। यह प्रक्रिया प्रत्यक्ष राजनीतिक दमन की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायी सिद्ध हुई, क्योंकि उसने लोगों की चेतना में ही एक नया बौद्धिक अनुशासन स्थापित कर दिया (कोहन, 1996; नंदी, 1983)।

औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण आधार **यूरोकेन्द्रवाद (Eurocentrism)** था। यूरोकेन्द्रिक दृष्टिकोण यह मानकर चलता है कि यूरोप का ऐतिहासिक अनुभव मानव सभ्यता के विकास का सार्वभौमिक प्रतिमान है। फलतः आधुनिकता, तर्कशीलता, वैज्ञानिकता, लोकतन्त्र और प्रगति जैसे विचारों को यूरोप की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों से पृथक कर सम्पूर्ण मानवता के लिए एकमात्र मानक के रूप में प्रस्तुत किया गया। इसके परिणामस्वरूप अन्य सभ्यताओं का मूल्यांकन उनके अपने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों में न होकर यूरोपीय मानदण्डों के आधार पर किया जाने लगा। जो समाज यूरोपीय विकास-पथ का अनुसरण करते प्रतीत नहीं हुए, उन्हें 'पिछड़ा', 'परम्परानिष्ठ' अथवा 'अविकसित' घोषित कर दिया गया (मिग्नोलो, 2011)।

भारतीय संदर्भ में इस दृष्टिकोण के प्रभाव अनेक स्तरों पर दिखाई देते हैं। भारतीय दार्शनिक परम्पराओं को धर्मशास्त्रीय मानकर आधुनिक दर्शन से पृथक कर दिया गया; आयुर्वेद, ज्योतिष, कृषि, धातुकर्म और स्थापत्य से सम्बन्धित परम्परागत ज्ञान को अनुभवजन्य वैज्ञानिक परम्पराओं के रूप में देखने के बजाय लोकविश्वासों की श्रेणी में रख दिया गया; और भारतीय इतिहास को इस प्रकार लिखा गया मानो उसकी गतिशीलता केवल बाहरी हस्तक्षेपों से उत्पन्न हुई हो। इस प्रक्रिया में भारतीय समाज की जटिलता, उसके बहुलतापूर्ण बौद्धिक विकास और उसके आन्तरिक नवाचारों की उपेक्षा हुई। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह था कि भारतीय शिक्षित वर्ग का एक भाग धीरे-धीरे इन्हीं औपनिवेशिक प्रतिमानों को वस्तुनिष्ठ सत्य के रूप में स्वीकार करने लगा।

यद्यपि उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययनों ने इस ज्ञान की राजनीति का प्रभावी विश्लेषण किया है, तथापि इक्कीसवीं शताब्दी में डिकोलोनियल चिन्तन ने इस विमर्श को और व्यापक बनाया। पेरू के समाजशास्त्री अनीबाल क्विज़ानो ने **'Coloniality of Power'** की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए यह प्रतिपादित किया कि औपनिवेशिक शासन समाप्त हो जाने के पश्चात भी उसके द्वारा निर्मित ज्ञान, सत्ता और सामाजिक वर्गीकरण की संरचनाएँ बनी रहती हैं (क्विज़ानो, 2000)। अर्थात् राजनीतिक स्वतंत्रता आवश्यक रूप से ज्ञानात्मक स्वतंत्रता की गारंटी नहीं देती। यही कारण है कि अनेक उत्तर-औपनिवेशिक समाज आज भी अपनी शिक्षा-व्यवस्थाओं, अनुसंधान-पद्धतियों और बौद्धिक प्राथमिकताओं में औपनिवेशिक विरासत से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सके हैं।

इसी बिन्दु पर औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श का प्रश्न केवल अतीत का ऐतिहासिक विषय नहीं रह जाता, बल्कि वर्तमान की बौद्धिक चुनौती बन जाता है। यदि ज्ञान के मानदण्ड, अनुसंधान की दिशाएँ, शैक्षिक प्राथमिकताएँ

और अकादमिक वैधताएँ अभी भी एक सीमित वैश्विक प्रतिमान द्वारा निर्धारित हों, तो ज्ञान की वास्तविक बहुलता सम्भव नहीं हो सकती। इसलिए औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श की आलोचना किसी सभ्यता-विशेष के विरोध का कार्यक्रम नहीं है; यह ज्ञान के लोकतंत्रीकरण, विविध ज्ञान-परम्पराओं की वैधता तथा अधिक न्यायपूर्ण वैश्विक बौद्धिक व्यवस्था की स्थापना का प्रश्न है। इसी संदर्भ में **बौद्धिक स्वराज** की अवधारणा केवल सांस्कृतिक स्वाभिमान का नारा न होकर ज्ञानमीमांसात्मक पुनर्स्थापन की एक गम्भीर परियोजना के रूप में उभरती है।

ज्ञान, सत्ता और औपनिवेशिक आधुनिकता : औपनिवेशिक ज्ञान की राजनीति के उपकरण

यदि औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श की अवधारणा को केवल वैचारिक स्तर पर समझा जाए, तो उसके वास्तविक प्रभावों का पूर्ण बोध नहीं हो सकता। किसी भी प्रभुत्वशाली व्यवस्था की शक्ति केवल उसके विचारों में नहीं, बल्कि उन संस्थागत व्यवस्थाओं में निहित होती है जिनके माध्यम से वे विचार समाज की सामान्य चेतना का हिस्सा बन जाते हैं। आधुनिक उपनिवेशवाद की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि उसने ज्ञान के उत्पादन और प्रसार की संस्थाओं - शिक्षा, भाषा, इतिहासलेखन, सर्वेक्षण, जनगणना, अभिलेखागार तथा विश्वविद्यालयों - को अपने राजनीतिक उद्देश्य के अनुरूप पुनर्गठित किया। परिणामस्वरूप औपनिवेशिक शासन केवल प्रशासनिक संरचना नहीं रहा; वह धीरे-धीरे ज्ञान की एक ऐसी प्रणाली में रूपान्तरित हो गया जिसने उपनिवेशित समाजों की आत्मधारणा को भी प्रभावित किया (फूको, 1980; कोहन, 1996)।

भारत में इस प्रक्रिया का सबसे प्रत्यक्ष प्रभाव शिक्षा-व्यवस्था पर दिखाई देता है। औपनिवेशिक शासन से पूर्व भारतीय उपमहाद्वीप में ज्ञानार्जन की अनेक समानान्तर परम्पराएँ विद्यमान थीं। गुरुकुल, पाठशालाएँ, टोल, मठ, मदरसे, जैन एवं बौद्ध शिक्षण-केन्द्र, शिल्प-परम्पराएँ तथा विभिन्न व्यवसायों से जुड़ी अनौपचारिक ज्ञान-संरचनाएँ अपने-अपने सामाजिक संदर्भों में सक्रिय थीं। इन संस्थाओं की संरचना, उद्देश्य और शिक्षण-विधियाँ विविध थीं, किन्तु वे स्थानीय समाज और उसकी आवश्यकताओं से गहरे रूप से जुड़ी हुई थीं। औपनिवेशिक शासन ने इस बहुलतापूर्ण शैक्षिक परिदृश्य को एक ऐसे केंद्रीकृत ढाँचे में परिवर्तित करना आरम्भ किया जिसका प्रमुख उद्देश्य प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा औपनिवेशिक शासन के लिए उपयुक्त मध्यवर्ग का निर्माण था। इस

परिवर्तन का अर्थ केवल संस्थागत पुनर्गठन नहीं था; इससे यह भी निर्धारित होने लगा कि कौन-सा ज्ञान उपयोगी है, कौन-सा आधुनिक है और कौन-सा अप्रासंगिक।

शिक्षा के साथ-साथ भाषा औपनिवेशिक ज्ञान की राजनीति का दूसरा अत्यन्त प्रभावशाली उपकरण बनी। किसी भी भाषा में केवल शब्द नहीं होते; उसके भीतर किसी समाज की स्मृतियाँ, प्रतीक, तर्क-पद्धतियाँ और सांस्कृतिक अनुभव भी निहित रहते हैं। जब किसी उपनिवेशित समाज में शासन, न्याय, उच्च शिक्षा और बौद्धिक प्रतिष्ठा का प्रमुख माध्यम विदेशी भाषा बन जाती है, तब धीरे-धीरे स्थानीय भाषाएँ केवल दैनिक संप्रेषण का माध्यम रह जाती हैं, जबकि ज्ञान और प्रतिष्ठा का सम्बन्ध विदेशी भाषा से स्थापित होने लगता है। भारत में अंग्रेज़ी के उदय ने आधुनिक विज्ञान, प्रशासन और वैश्विक संवाद के नए अवसर अवश्य प्रदान किए, किन्तु इसके साथ ही भारतीय भाषाओं में विकसित विशाल ज्ञान-साहित्य को क्रमशः अकादमिक परिधि से बाहर भी कर दिया। फलतः भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम न रहकर ज्ञान की सामाजिक वैधता का निर्धारक भी बन गई (न्गुगी, 1986; गांधी, 1909/2019)।

इतिहासलेखन भी औपनिवेशिक ज्ञान की राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण आयाम था। प्रत्येक सभ्यता अपने अतीत की व्याख्या के माध्यम से अपने वर्तमान को अर्थ देती है और भविष्य की दिशा निर्धारित करती है। इसलिए इतिहास का लेखन केवल अतीत का विवरण नहीं, बल्कि वर्तमान की वैचारिक संरचना का निर्माण भी होता है। औपनिवेशिक इतिहासकारों ने भारत के अतीत को मुख्यतः राजनीतिक विखण्डन, धार्मिक संघर्ष, सामाजिक जड़ता और वैज्ञानिक निष्क्रियता की दृष्टि से प्रस्तुत किया। भारतीय इतिहास की आन्तरिक निरन्तरता, बौद्धिक परम्पराओं के विकास, स्थानीय स्वशासन की विविध संस्थाओं तथा ज्ञान के बहुल स्रोतों को अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया गया। इससे एक ऐसी ऐतिहासिक चेतना विकसित हुई जिसमें आधुनिकता का आरम्भ लगभग पूर्णतः औपनिवेशिक हस्तक्षेप से जुड़ा हुआ प्रतीत होने लगा। एडवर्ड सईद ने इस प्रकार के प्रतिनिधित्व को ज्ञान और सत्ता के अन्तर्सम्बन्ध का परिणाम माना है, जहाँ किसी समाज की छवि का निर्माण उसी समाज की वास्तविकता से अधिक, उसे देखने वाली सत्ता की आवश्यकताओं के अनुरूप किया जाता है (सईद, 1978/2003)।

औपनिवेशिक शासन ने वर्गीकरण (classification) और गणना (enumeration) को भी शासन की बौद्धिक तकनीक में रूपान्तरित किया। जनगणनाएँ, जातीय सूचियाँ, भाषायी सर्वेक्षण, राजस्व अभिलेख और

नृवंशीय विवरण केवल प्रशासनिक दस्तावेज नहीं थे; वे भारतीय समाज की नई परिभाषाएँ भी निर्मित कर रहे थे। अनेक सामाजिक पहचानें, जो पूर्व में अधिक लचीली, स्थानीय अथवा बहुस्तरीय थीं, औपनिवेशिक प्रशासनिक श्रेणियों में स्थिर रूप ग्रहण करने लगीं। इस प्रक्रिया ने समाज को समझने के औपनिवेशिक ढाँचे को इतना प्रभावशाली बना दिया कि स्वतंत्रता के बाद भी अनेक प्रशासनिक, शैक्षिक और अकादमिक संरचनाएँ उसी वर्गीकरण को आधार बनाकर विकसित होती रहीं (कोहन, 1996)।

विश्वविद्यालयों और आधुनिक अकादमिक संस्थाओं की भूमिका भी इस संदर्भ में विचारणीय है। आधुनिक विश्वविद्यालयों ने निस्सन्देह भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान, आधुनिक विषयों और आलोचनात्मक बौद्धिक परम्परा के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उनके अधिकांश पाठ्यक्रम, अनुशासन और अनुसंधान-मानदण्ड यूरोपीय ज्ञान-संरचनाओं पर आधारित थे। भारतीय ज्ञान-परंपराओं का अध्ययन प्रायः इतिहास, संस्कृति अथवा प्राच्यवाद (Oriental Studies) तक सीमित रहा, जबकि आधुनिक सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता को सामान्यतः प्रश्नातीत मान लिया गया। फलतः भारतीय बौद्धिक जीवन में एक ऐसी द्वैध स्थिति उत्पन्न हुई जिसमें भारतीय परम्परा सांस्कृतिक गौरव का विषय तो बनी रही, परन्तु आधुनिक ज्ञान-सृजन का सक्रिय स्रोत नहीं बन सकी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि औपनिवेशिक ज्ञान की राजनीति की आलोचना का अर्थ आधुनिक विज्ञान, विश्वविद्यालयों अथवा पश्चिमी बौद्धिक परम्पराओं का निषेध नहीं है। ऐसा निष्कर्ष स्वयं उसी द्वैतवादी दृष्टि का परिणाम होगा जिसकी आलोचना की जा रही है। आधुनिक विज्ञान ने मानव जीवन को अनेक स्तरों पर समृद्ध किया है; पश्चिमी दर्शन और सामाजिक विज्ञान ने भी विश्व-बौद्धिक परम्परा को महत्त्वपूर्ण योगदान दिए हैं। प्रश्न उनके अस्तित्व का नहीं, बल्कि उनकी **एकाधिकारवादी सार्वभौमिकता** का है। समस्या तब उत्पन्न होती है जब किसी एक ज्ञान-परम्परा को मानक मानकर अन्य सभी परम्पराओं का मूल्यांकन किया जाने लगे और उनके अनुभवों, पद्धतियों तथा ज्ञानमीमांसात्मक आधारों को गौण मान लिया जाए। इसी कारण समकालीन डिकोलोनियल विमर्श **ज्ञान की बहुलता (Epistemic Pluralism)** पर बल देता है। इसका आशय यह नहीं कि सभी ज्ञान-परम्पराएँ समान रूप से सत्य हैं, बल्कि यह कि किसी भी ज्ञान-परम्परा का मूल्यांकन उसके अपने दार्शनिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों को समझे बिना नहीं किया जा सकता। ज्ञान का लोकतंत्रीकरण तभी सम्भव है जब विभिन्न सभ्यताओं को केवल अध्ययन की वस्तु (objects of knowledge) नहीं, बल्कि ज्ञान-

निर्माण के सक्रिय स्रोत (subjects of knowledge) के रूप में भी स्वीकार किया जाए। यही वह बिन्दु है जहाँ औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श की आलोचना क्रमशः **बौद्धिक स्वराज** की अवधारणा की ओर अग्रसर होती है। बौद्धिक स्वराज का मूल आग्रह किसी वैचारिक आत्मनिर्वासन में नहीं, बल्कि इस क्षमता के विकास में है कि कोई समाज अपने अनुभवों और अपनी ज्ञान-परम्पराओं के आधार पर भी विश्व-ज्ञान में सार्थक योगदान दे सके।

बौद्धिक स्वराज : अवधारणा, विकास और समकालीन अर्थ

औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श की आलोचना केवल इस बात तक सीमित नहीं रह सकती कि उपनिवेशवाद ने ज्ञान-संरचनाओं को किस प्रकार प्रभावित किया। यदि आलोचना के साथ कोई रचनात्मक वैचारिक प्रतिपक्ष उपस्थित न हो, तो वह केवल ऐतिहासिक विश्लेषण बनकर रह जाती है। भारतीय बौद्धिक परम्परा में **बौद्धिक स्वराज** की अवधारणा इसी रचनात्मक प्रतिपक्ष का प्रतिनिधित्व करती है। यह अवधारणा किसी राजनीतिक आन्दोलन का विस्तार मात्र नहीं है, बल्कि ज्ञान, विचार, शिक्षा और सांस्कृतिक आत्मचेतना से सम्बन्धित एक गहन दार्शनिक परियोजना है। इसका मूल प्रश्न यह है कि क्या कोई समाज अपने बौद्धिक जीवन का संचालन उधार लिए गए वैचारिक प्रतिमानों के आधार पर कर सकता है, अथवा उसे अपने अनुभवों, अपनी ऐतिहासिक चेतना और अपनी ज्ञान-परम्पराओं के आधार पर स्वयं अपनी वैचारिक दिशा निर्मित करनी चाहिए? यहाँ यह समझना आवश्यक है कि बौद्धिक स्वराज का अर्थ **बौद्धिक आत्मनिर्भरता (Intellectual Self-Reliance)** अवश्य है, किन्तु **बौद्धिक आत्मनिर्वासन (Intellectual Isolation)** नहीं। इसका उद्देश्य विश्व-ज्ञान से स्वयं को पृथक कर लेना नहीं, बल्कि उस संवाद में समानता और आत्मविश्वास के साथ सहभागी बनना है। वास्तव में किसी भी जीवंत ज्ञान-परम्परा का विकास संवाद, आलोचना और आत्मपुनरीक्षण के माध्यम से ही सम्भव होता है। इसलिए बौद्धिक स्वराज का आग्रह किसी सभ्यता की आत्मकेन्द्रित श्रेष्ठता पर नहीं, बल्कि ज्ञान के बहुलतापूर्ण और न्यायपूर्ण स्वरूप पर आधारित है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में इस अवधारणा का व्यवस्थित दार्शनिक प्रतिपादन सर्वप्रथम **कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य** ने अपने प्रसिद्ध व्याख्यान *Swaraj in Ideas* (1931) में किया। भट्टाचार्य ने अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ यह संकेत किया कि राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने के बाद भी कोई समाज विचारों के स्तर पर पराधीन बना रह सकता है।

उनके अनुसार वास्तविक पराधीनता तब उत्पन्न होती है जब कोई समाज अपनी बौद्धिक समस्याओं को भी दूसरे समाजों के पूर्वनिर्धारित प्रतिमानों के माध्यम से देखने लगे और अपने स्वतंत्र विवेक का उपयोग करना छोड़ दे (भट्टाचार्य, 1931/2011)। यह विचार आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना औपनिवेशिक काल में था। वैश्वीकरण और ज्ञान के तीव्र अंतरराष्ट्रीय आदान-प्रदान के वर्तमान युग में भी यह प्रश्न बना हुआ है कि क्या हम सिद्धान्तों का केवल उपभोग कर रहे हैं, या उनके सृजन में भी भागीदार हैं? भट्टाचार्य के लिए 'स्वराज' का अर्थ विचारों की सीमाबद्धता नहीं, बल्कि विचारों की स्वाधीनता था। उन्होंने विदेशी विचारों के अध्ययन का विरोध नहीं किया; बल्कि वे इस बात पर बल देते हैं कि किसी भी विचार को उसकी बौद्धिक शक्ति के आधार पर स्वीकार किया जाना चाहिए, न कि उसके भौगोलिक अथवा सांस्कृतिक स्रोत के आधार पर। इसीलिए उनके यहाँ स्वराज का आशय अस्वीकार (rejection) से अधिक **आत्मसात् करने की स्वतंत्र क्षमता (critical appropriation)** से है। यह दृष्टिकोण आज भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ज्ञान का वास्तविक विकास अनुकरण से नहीं, बल्कि सृजनात्मक पुनर्व्याख्या से होता है।

महात्मा गांधी के चिन्तन में बौद्धिक स्वराज का स्वरूप एक भिन्न आयाम ग्रहण करता है। *हिन्द स्वराज* में गांधी आधुनिक सभ्यता की आलोचना करते हुए केवल राजनीतिक औपनिवेशिक शासन का विरोध नहीं करते, बल्कि उस मानसिकता पर भी प्रश्न उठाते हैं जो मनुष्य को उसकी संस्कृति, समुदाय और नैतिक उत्तरदायित्व से पृथक कर देती है (गांधी, 1909/2019)। गांधी के लिए स्वराज केवल शासन-परिवर्तन नहीं, बल्कि आत्मशासन (self-rule) था। इसी प्रकार ज्ञान का भी वास्तविक उद्देश्य केवल सूचना-संग्रह अथवा तकनीकी दक्षता नहीं, बल्कि विवेक, नैतिकता और मानवीय उत्तरदायित्व का विकास होना चाहिए। इस दृष्टि से गांधी बौद्धिक स्वराज को नैतिक स्वराज से पृथक नहीं करते। उनके लिए ज्ञान तभी सार्थक है जब वह मनुष्य और समाज के जीवन को अधिक न्यायपूर्ण, आत्मनिर्भर और संवेदनशील बनाए।

यद्यपि गांधी और भट्टाचार्य की चिंतन-परम्पराएँ भिन्न हैं, तथापि दोनों के बीच एक गहरा वैचारिक साम्य दिखाई देता है। दोनों इस बात पर सहमत हैं कि किसी समाज का वास्तविक विकास केवल बाहरी संस्थाओं के अनुकरण से सम्भव नहीं है। विकास का आधार उसके अपने सामाजिक अनुभव, सांस्कृतिक संसाधन और बौद्धिक आत्मविश्वास होने चाहिए। इसी कारण दोनों के यहाँ स्वराज मूलतः **चेतना का प्रश्न** है, न कि केवल सत्ता का।

धर्मपाल का योगदान इस विमर्श में एक विशिष्ट दिशा प्रदान करता है। उन्होंने बौद्धिक स्वराज का प्रतिपादन दार्शनिक तर्कों की अपेक्षा ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर किया। ब्रिटिश अभिलेखागारों में उपलब्ध दस्तावेज़ों का अध्ययन करते हुए उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया कि अठारहवीं शताब्दी का भारतीय समाज शिक्षा, शिल्प, कृषि, धातुकर्म और स्थानीय स्वशासन की अनेक विकसित परम्पराओं से सम्पन्न था (धर्मपाल, 1983; 2000)। धर्मपाल का महत्त्व इस बात में नहीं है कि उन्होंने भारतीय अतीत को आदर्श सिद्ध करने का प्रयास किया; बल्कि इस बात में है कि उन्होंने औपनिवेशिक इतिहासलेखन द्वारा निर्मित अनेक स्थिर धारणाओं को अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर पुनर्परीक्षित करने का आग्रह किया। इस प्रकार उनके यहाँ बौद्धिक स्वराज का अर्थ अतीत का महिमामण्डन नहीं, बल्कि ऐतिहासिक स्मृति की पुनर्प्राप्ति है।

इसी विमर्श को आशीष नंदी एक मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक गहराई प्रदान करते हैं। नंदी के अनुसार उपनिवेशवाद की सबसे बड़ी सफलता राजनीतिक नियंत्रण नहीं, बल्कि मानसिक संरचनाओं का उपनिवेशीकरण था (नंदी, 1983)। जब उपनिवेशित समाज स्वयं अपनी भाषाओं, अपने ज्ञान और अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को हीन मानने लगता है, तब बाहरी प्रभुत्व की आवश्यकता भी कम हो जाती है। इस प्रकार मानसिक उपनिवेशवाद राजनीतिक उपनिवेशवाद की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायी सिद्ध होता है। नंदी का यह विश्लेषण आज के वैश्विक संदर्भ में भी प्रासंगिक है, जहाँ सांस्कृतिक प्रभाव और ज्ञानात्मक वर्चस्व अनेक बार प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण के बिना भी स्थापित हो जाते हैं।

इन सभी विचारकों का समेकित अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि **बौद्धिक स्वराज कोई एकरूप सिद्धान्त नहीं है**। यह विभिन्न स्तरों पर विकसित होने वाली एक बहुआयामी अवधारणा है। भट्टाचार्य के यहाँ यह विचारों की स्वाधीनता है; गांधी के यहाँ नैतिक और सांस्कृतिक आत्मनिर्भरता; धर्मपाल के यहाँ ऐतिहासिक आत्मस्मृति का पुनरुद्धार; और नंदी के यहाँ मानसिक उपनिवेशवाद से मुक्ति का प्रयास। इन विविध दृष्टियों को एक सूत्र में बाँधने वाला तत्त्व यह है कि सभी ज्ञान के क्षेत्र में स्वतंत्र विवेक, आत्मविश्वास और आलोचनात्मक चेतना को अनिवार्य मानते हैं। यहीं एक महत्त्वपूर्ण सावधानी भी आवश्यक है। बौद्धिक स्वराज को यदि केवल अतीत की ओर लौटने की परियोजना मान लिया जाए, तो उसका मूल उद्देश्य विकृत हो जाएगा। किसी भी ज्ञान-परम्परा की जीवंतता उसके निरन्तर आत्मालोचन, संवाद और नवोन्मेष में निहित होती है। इसलिए भारतीय बौद्धिक स्वराज का वास्तविक अर्थ

भारतीय ज्ञान-परंपरा को आधुनिक विज्ञान और वैश्विक बौद्धिक विमर्श के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्रस्तुत करना नहीं है; बल्कि उसे एक वैध, सृजनशील और संवादक्षम ज्ञान-परम्परा के रूप में पुनर्स्थापित करना है। यही वह बिन्दु है जहाँ बौद्धिक स्वराज भविष्य की ओर उन्मुख एक रचनात्मक परियोजना बन जाता है, न कि अतीत की पुनरावृत्ति का कार्यक्रम।

भारतीय ज्ञान-परंपरा : एक वैकल्पिक ज्ञानमीमांसात्मक प्रतिमान

औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श की आलोचना तब तक अधूरी रहती है जब तक उसके समक्ष किसी वैकल्पिक ज्ञान-दृष्टि की रचनात्मक सम्भावना प्रस्तुत न की जाए। केवल यह कहना पर्याप्त नहीं कि औपनिवेशिक शासन ने भारतीय ज्ञान-परंपराओं को उपेक्षित किया; अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या भारतीय ज्ञान-परंपरा में ऐसा कोई ज्ञानमीमांसात्मक आधार विद्यमान है जो समकालीन वैश्विक ज्ञान-विमर्श को नए आयाम प्रदान कर सके? यही प्रश्न भारतीय बौद्धिक स्वराज को भारतीय ज्ञान-परंपरा से जोड़ता है। इस सन्दर्भ में भारतीय ज्ञान-परंपरा का अध्ययन केवल ऐतिहासिक विरासत के रूप में नहीं, बल्कि ज्ञान के स्वरूप, उसके साधनों, उसकी वैधता और उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में एक स्वतंत्र दार्शनिक प्रतिमान के रूप में किया जाना अपेक्षित है।

भारतीय ज्ञान-परंपरा की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसने ज्ञान को किसी एकमात्र स्रोत अथवा पद्धति तक सीमित नहीं किया। भारतीय दर्शन की विभिन्न परम्पराओं में ज्ञान के साधनों (प्रमाणों) पर विस्तृत विचार हुआ है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि जैसे प्रमाण इस तथ्य का संकेत करते हैं कि भारतीय ज्ञानमीमांसा अनुभव, तर्क, भाषा, परम्परा और विवेक - इन सभी को ज्ञान-निर्माण की प्रक्रिया में महत्त्व देती है (राधाकृष्णन, 1923/1996; दासगुप्त, 1922/1975)। यद्यपि विभिन्न दार्शनिक दर्शनों में प्रमाणों की संख्या और उनकी स्वीकृति भिन्न-भिन्न है, तथापि समग्र भारतीय परम्परा का आग्रह ज्ञान के स्रोतों की बहुलता पर है। यह दृष्टिकोण आधुनिक ज्ञानमीमांसा के लिए विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि यह ज्ञान को किसी एक पद्धति की अनिवार्य सीमा में नहीं बाँधता। यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि भारतीय ज्ञान-परंपरा में 'ज्ञान' का अर्थ मात्र सूचना (information) अथवा तथ्य-संग्रह (data) नहीं है। उपनिषदों से लेकर बौद्ध, जैन और वेदान्तीय परम्पराओं तक ज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के आत्मबोध, नैतिक परिष्कार और जीवन के व्यापक अर्थ से जोड़ा गया है। ज्ञान का उद्देश्य

केवल बाह्य जगत् का नियंत्रण नहीं, बल्कि स्वयं मनुष्य का भी रूपान्तरण माना गया है। इसलिए भारतीय परम्परा में ज्ञान और मूल्य, ज्ञान और आचरण, तथा ज्ञान और उत्तरदायित्व के बीच कृत्रिम विभाजन नहीं मिलता। यह दृष्टिकोण आधुनिक तकनीकी सभ्यता के उस संकट की ओर भी संकेत करता है जिसमें ज्ञान की वृद्धि अनेक बार नैतिक विवेक की समानान्तर वृद्धि के बिना होती रही है (राधाकृष्णन, 1932/2009)।

भारतीय ज्ञान-परंपरा की दूसरी विशिष्टता उसका **संवादात्मक स्वरूप** है। भारतीय बौद्धिक इतिहास किसी एक विचारधारा की एकरेखीय यात्रा नहीं है; वह विविध दार्शनिक परम्पराओं के बीच निरन्तर संवाद, वाद-विवाद और पुनर्व्याख्या का इतिहास है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन परस्पर गहन असहमतियों के बावजूद एक साझा बौद्धिक संस्कृति का निर्माण करते हैं, जिसमें मतभेद ज्ञान-विकास की प्रक्रिया का स्वाभाविक अंग हैं। 'पूर्वपक्ष' और 'उत्तरपक्ष' की परम्परा इस बात का प्रमाण है कि भारतीय चिन्तन में असहमति को वैचारिक दुर्बलता नहीं, बल्कि बौद्धिक परिपक्वता का आधार माना गया। इस प्रकार भारतीय ज्ञान-परंपरा का मूल स्वभाव संवादात्मक (dialogical) है, न कि एकाधिकारवादी। यही कारण है कि भारतीय ज्ञान-दृष्टि में सत्य को भी अनेक स्तरों पर समझने का प्रयास मिलता है। जैन दर्शन का अनेकान्तवाद, बौद्ध दर्शन की प्रतीत्यसमुत्पाद की अवधारणा तथा उपनिषदों का 'नेति-नेति' का प्रतिपादन यह संकेत करते हैं कि यथार्थ को किसी एक अंतिम और अपरिवर्तनीय कथन में सीमित नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह नहीं कि सत्य सापेक्षतावादी (relativistic) है, बल्कि यह कि सत्य की खोज विनम्रता, संवाद और निरन्तर अन्वेषण की प्रक्रिया है। समकालीन ज्ञान-विमर्श में, जहाँ जटिल सामाजिक और वैज्ञानिक समस्याएँ बहुविषयी दृष्टि की माँग करती हैं, यह भारतीय दृष्टिकोण विशेष रूप से प्रासंगिक प्रतीत होता है।

भारतीय ज्ञान-परंपरा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष उसका **समग्रतावादी** दृष्टिकोण है। आधुनिक ज्ञान-संरचनाओं ने विषयों के विशिष्टीकरण (specialization) के माध्यम से अद्भुत प्रगति की है, किन्तु इसके साथ ज्ञान का अत्यधिक विखण्डन भी हुआ है। इसके विपरीत भारतीय चिन्तन में प्रकृति, समाज, व्यक्ति और चेतना को प्रायः परस्पर सम्बद्ध तत्त्वों के रूप में देखा गया है। इसका अर्थ आधुनिक विशिष्टीकरण का निषेध नहीं, बल्कि यह स्वीकार करना है कि जटिल मानवीय समस्याओं का समाधान केवल पृथक-पृथक अनुशासनों में सम्भव नहीं है। शिक्षा, पर्यावरण, स्वास्थ्य, प्रौद्योगिकी और नैतिकता जैसे समकालीन प्रश्न इसी समग्र दृष्टि की माँग करते हैं।

यद्यपि भारतीय ज्ञान-परंपरा की इन विशेषताओं का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है, किन्तु उतना ही आवश्यक है कि इसे आलोचनात्मक विवेक के साथ समझा जाए। किसी भी प्राचीन ज्ञान-परम्परा की भाँति भारतीय परम्परा भी अपने ऐतिहासिक संदर्भों, सीमाओं और अन्तर्विरोधों से मुक्त नहीं रही। उसमें सामाजिक असमानताओं, ज्ञान की सीमित उपलब्धता तथा परम्परागत संरचनाओं से जुड़े अनेक प्रश्न भी विद्यमान रहे हैं। अतः भारतीय ज्ञान-परंपरा को एक आदर्शीकृत और त्रुटिहीन व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करना स्वयं उसके दार्शनिक स्वभाव के विपरीत होगा। वास्तविक बौद्धिक स्वराज परम्परा के अनालोचित महिमामण्डन में नहीं, बल्कि उसके सृजनात्मक पुनर्पाठ में निहित है। यहीं यह प्रश्न भी उठता है कि क्या भारतीय ज्ञान-परंपरा आधुनिक विज्ञान के समक्ष कोई वैकल्पिक प्रतिद्वन्द्वी प्रतिमान प्रस्तुत करती है? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है, यदि 'वैकल्पिक' का अर्थ प्रतिस्थापन से लिया जाए; किन्तु उत्तर सकारात्मक है, यदि 'वैकल्पिक' का अर्थ **पूरक ज्ञानमीमांसीय दृष्टि (complementary epistemological perspective)** से लिया जाए। आधुनिक विज्ञान अनुभवजन्य परीक्षण, पुनरुत्पादकता और विश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है; भारतीय ज्ञान-परंपरा अनुभव, तर्क, अन्तर्दृष्टि, नैतिकता और जीवनगत अर्थ के व्यापक आयामों पर भी विचार करती है। दोनों की कार्य-प्रणालियाँ भिन्न हैं, किन्तु इस भिन्नता को अनिवार्य विरोध के रूप में देखना आवश्यक नहीं है। ज्ञान की बहुलता का वास्तविक अर्थ यही है कि विभिन्न ज्ञान-परम्पराएँ अपनी विशिष्टताओं को सुरक्षित रखते हुए एक-दूसरे के साथ संवाद कर सकें।

समकालीन विश्व में **ज्ञान-सम्प्रभुता (Knowledge Sovereignty)**, **ज्ञानात्मक न्याय (Epistemic Justice)** और **संज्ञानात्मक न्याय (Cognitive Justice)** जैसी अवधारणाओं का बढ़ता महत्त्व इसी दिशा की ओर संकेत करता है। इन अवधारणाओं का मूल आग्रह यह है कि विश्व की विविध सभ्यताओं, समुदायों और सांस्कृतिक परम्पराओं को केवल ज्ञान के उपभोक्ता के रूप में नहीं, बल्कि ज्ञान के वैध उत्पादक के रूप में भी स्वीकार किया जाए (सैंटोस, 2014)। भारतीय ज्ञान-परंपरा का पुनर्पाठ इसी व्यापक वैश्विक विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण अंग हो सकता है। इसका उद्देश्य किसी प्रकार का ज्ञानात्मक वर्चस्व स्थापित करना नहीं, बल्कि ज्ञान के वैश्विक परिदृश्य को अधिक बहुलतापूर्ण, न्यायपूर्ण और संवादपरक बनाना है।

इसी बिन्दु पर भारतीय ज्ञान-परंपरा और बौद्धिक स्वराज एक-दूसरे से गहरे रूप में जुड़ते हैं। बौद्धिक स्वराज का अर्थ केवल औपनिवेशिक प्रभावों की आलोचना नहीं, बल्कि ऐसी बौद्धिक संस्कृति का निर्माण भी है जो अपने

अनुभवों पर विचार करने, अपनी परम्पराओं का समालोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन करने और विश्व-ज्ञान में आत्मविश्वास के साथ योगदान देने की क्षमता रखती हो। भारतीय ज्ञान-परंपरा इस प्रक्रिया की आधारभूमि प्रदान करती है, किन्तु उसका वास्तविक पुनर्जागरण तभी सम्भव होगा जब वह इतिहास के संग्रहालय से बाहर निकलकर समकालीन शिक्षा, अनुसंधान और ज्ञान-सृजन की जीवंत प्रक्रिया का सक्रिय अंग बने।

समकालीन शिक्षा, भारतीय ज्ञान परंपरा और बौद्धिक स्वराज : संभावनाएँ एवं चुनौतियाँ

इक्कीसवीं शताब्दी का वैश्विक शिक्षा-विमर्श एक ऐसे संक्रमणकाल से गुजर रहा है, जिसमें ज्ञान की प्रकृति, शिक्षा के उद्देश्य और विश्वविद्यालयों की भूमिका पुनर्विचार के विषय बन गए हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल प्रौद्योगिकी, वैश्वीकरण, जलवायु संकट तथा तीव्र सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शिक्षा केवल कौशल-विकास अथवा मानव संसाधन निर्माण का माध्यम नहीं हो सकती। वह ज्ञान, संस्कृति, नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व के मध्य संतुलन स्थापित करने वाली प्रक्रिया भी है। इसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में भारत में राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 ने भारतीय ज्ञान परंपरा को शिक्षा के विविध स्तरों पर समाविष्ट करने का प्रस्ताव रखा है (भारत सरकार, 2020)। यह प्रस्ताव केवल पाठ्यक्रम में कुछ नए विषय जोड़ने का प्रयास नहीं है; इसके पीछे भारतीय ज्ञान-परंपरा और समकालीन शिक्षा के मध्य एक सार्थक संवाद स्थापित करने की आकांक्षा निहित है।

यद्यपि राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 ने भारतीय ज्ञान परंपरा को महत्त्व प्रदान किया है, तथापि इस पहल का मूल्यांकन केवल नीतिगत घोषणाओं के आधार पर नहीं किया जा सकता। अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या भारतीय ज्ञान परंपरा को शिक्षा में केवल सांस्कृतिक प्रतीक (cultural symbol) के रूप में प्रस्तुत किया जाएगा, अथवा उसे ज्ञान-सृजन की सक्रिय पद्धति के रूप में विकसित किया जाएगा? यदि भारतीय ज्ञान-परंपरा का अध्ययन केवल गौरवगाथाओं, प्राचीन उपलब्धियों अथवा सांस्कृतिक परिचय तक सीमित रह जाता है, तो वह बौद्धिक स्वराज की परियोजना को आगे नहीं बढ़ा सकेगा। इसके विपरीत यदि उसे ज्ञानमीमांसात्मक, दार्शनिक और अनुसंधानात्मक दृष्टि से पुनर्परिभाषित किया जाए, तो वह समकालीन शिक्षा में रचनात्मक योगदान दे सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी भी ज्ञान-परम्परा की प्रासंगिकता उसके ऐतिहासिक महत्व से नहीं, बल्कि समकालीन समस्याओं के समाधान में उसके योगदान से निर्धारित होती है। भारतीय ज्ञान-परंपरा का वास्तविक पुनर्जागरण तभी सम्भव है जब वह वर्तमान शिक्षा-विमर्श के मूल प्रश्नों - ज्ञान की प्रकृति, अधिगम की प्रक्रिया,

नैतिक निर्णय, पर्यावरणीय उत्तरदायित्व, मानवीय गरिमा, सामाजिक न्याय और सतत विकास - के साथ संवाद स्थापित करे। उदाहरण के लिए भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में उपलब्ध संवाद, सह-अस्तित्व, आत्मानुशासन, लोकमंगल तथा समग्रता के विचार आज की शिक्षा में केवल सांस्कृतिक अध्ययन का विषय नहीं हैं; वे शिक्षा के उद्देश्यों पर पुनर्विचार करने की वैचारिक आधारभूमि भी प्रदान कर सकते हैं।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में यह प्रश्न और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। वर्तमान विश्वविद्यालयों में ज्ञान का संगठन मुख्यतः आधुनिक अकादमिक अनुशासनों के आधार पर हुआ है। यह संरचना अनुसंधान और विशेषज्ञता के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है, किन्तु अनेक बार विषयों के मध्य संवाद को सीमित भी करती है। भारतीय ज्ञान-परंपरा की विशेषता यह रही है कि उसने ज्ञान को मूलतः अन्तर्सम्बद्ध (interconnected) माना। दर्शन, चिकित्सा, भाषा, गणित, खगोल, कृषि, कला और नैतिकता को पूर्णतः पृथक क्षेत्रों के रूप में नहीं देखा गया। इसका अर्थ आधुनिक विषय-विभाजन का विरोध नहीं है, बल्कि यह संकेत करना है कि जटिल सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए बहुविषयी (multidisciplinary) और अन्तर्विषयी (interdisciplinary) दृष्टिकोण आवश्यक है। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञान-परंपरा का पुनर्पाठ राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 द्वारा प्रतिपादित बहुविषयी शिक्षा की अवधारणा को एक गहरा दार्शनिक आधार प्रदान कर सकता है (भारत सरकार, 2020)। इसी प्रकार अनुसंधान की पद्धति पर भी पुनर्विचार की आवश्यकता है। भारतीय विश्वविद्यालयों में अनुसंधान की गुणवत्ता का मूल्यांकन प्रायः उन मानदण्डों के आधार पर किया जाता है जिनका विकास विशिष्ट पश्चिमी अकादमिक परम्पराओं में हुआ। निस्सन्देह इन मानदण्डों ने वैज्ञानिक कठोरता, पारदर्शिता और तर्कशीलता को सुदृढ़ किया है; किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि अनेक स्थानीय ज्ञान-रूप, सामुदायिक अनुभव, मौखिक परम्पराएँ और सांस्कृतिक व्यवहार इन मानकों के भीतर पर्याप्त स्थान नहीं प्राप्त कर सके। बौद्धिक स्वराज का आशय इन मानदण्डों को अस्वीकार करना नहीं, बल्कि अनुसंधान की ऐसी व्यापक समझ विकसित करना है जिसमें विविध ज्ञान-स्रोतों और विविध प्रमाण-पद्धतियों को भी उचित स्थान मिल सके। ज्ञान की गुणवत्ता का अर्थ केवल पद्धतिगत अनुशासन नहीं, बल्कि संदर्भगत प्रासंगिकता भी है।

भाषा का प्रश्न भी इस सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि उच्च शिक्षा में ज्ञान-सृजन का अधिकांश कार्य केवल सीमित भाषिक समुदाय तक सीमित रह जाए, तो ज्ञान का लोकतंत्रीकरण सम्भव नहीं हो सकता। मातृभाषाओं

और भारतीय भाषाओं में उच्च-स्तरीय अकादमिक लेखन, अनुवाद, तकनीकी शब्दावली और मौलिक अनुसंधान को प्रोत्साहन देना केवल भाषायी नीति का प्रश्न नहीं है; यह ज्ञानात्मक न्याय का प्रश्न भी है। तथापि यहाँ भी संतुलन अपेक्षित है। अंग्रेज़ी सहित अन्य वैश्विक भाषाओं से संवाद बनाए रखना उतना ही आवश्यक है जितना भारतीय भाषाओं में ज्ञान-सृजन को प्रोत्साहित करना। बौद्धिक स्वराज का अर्थ किसी भाषा का विरोध नहीं, बल्कि भाषायी असमानता को कम करना है।

समकालीन शिक्षा में कृत्रिम बुद्धिमत्ता के तीव्र विस्तार ने भी इस विमर्श को नई दिशा प्रदान की है। ज्ञान का उत्पादन, प्रसार और मूल्यांकन अब अभूतपूर्व तकनीकी परिवर्तनों से प्रभावित हो रहा है। ऐसे समय में भारतीय ज्ञान-परंपरा की प्रासंगिकता केवल इस कारण नहीं है कि वह प्राचीन है, बल्कि इसलिए भी है कि वह ज्ञान को नैतिकता, विवेक और मानवीय उत्तरदायित्व से पृथक नहीं करती। यदि शिक्षा का उद्देश्य केवल अधिक दक्ष एल्गोरिद्म विकसित करना रह जाए और मनुष्य की नैतिक चेतना, करुणा तथा सामाजिक उत्तरदायित्व उपेक्षित हो जाएँ, तो ज्ञान का विस्तार स्वयं मानवता के लिए संकट उत्पन्न कर सकता है। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञान-परंपरा आधुनिक प्रौद्योगिकी-विमर्श के साथ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संवाद स्थापित कर सकती है। फिर भी इस सम्पूर्ण परियोजना के समक्ष अनेक चुनौतियाँ हैं। सबसे पहली चुनौती प्रामाणिक स्रोतों के समालोचनात्मक अध्ययन की है। भारतीय ज्ञान-परंपरा के अनेक ग्रन्थ अभी भी आधुनिक शोध-पद्धतियों के अनुरूप सम्पादित, अनूदित और विश्लेषित नहीं हुए हैं। दूसरी चुनौती प्रशिक्षित अध्यापकों और शोधकर्ताओं की है, जो एक साथ भारतीय परम्परा तथा समकालीन अकादमिक विमर्श दोनों की गहरी समझ रखते हों। तीसरी चुनौती वैचारिक ध्रुवीकरण की है। यदि भारतीय ज्ञान परंपरा का अध्ययन केवल राजनीतिक आग्रहों अथवा सांस्कृतिक भावनाओं के आधार पर किया जाएगा, तो उसका अकादमिक विकास बाधित होगा। उसी प्रकार यदि पूर्वाग्रहवश उसे केवल अतीत का अवशेष मानकर उपेक्षित कर दिया जाएगा, तब भी ज्ञान का वास्तविक संवाद सम्भव नहीं होगा।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय ज्ञान परंपरा को न तो अनालोचित श्रद्धा का विषय बनाया जाए और न ही पूर्वधारणाओं के आधार पर अस्वीकार किया जाए। उसे उसी अकादमिक कठोरता, आलोचनात्मक विवेक और बौद्धिक ईमानदारी के साथ अध्ययन का विषय बनाया जाना चाहिए जिसकी अपेक्षा किसी भी अन्य ज्ञान-परम्परा से की जाती है। बौद्धिक स्वराज का वास्तविक अर्थ भी यही है कि भारतीय विश्वविद्यालय और

अनुसंधान संस्थान अपनी ज्ञान-परम्पराओं का अध्ययन भावनात्मक आग्रह से नहीं, बल्कि स्वतंत्र बौद्धिक आत्मविश्वास और आलोचनात्मक दृष्टि के साथ करें। तभी भारतीय ज्ञान-परंपरा समकालीन शिक्षा का जीवंत अंग बन सकेगी और तभी राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 का यह महत्त्वपूर्ण उद्देश्य सार्थक रूप से साकार हो सकेगा।

समालोचनात्मक विमर्श : बौद्धिक स्वराज की सीमाएँ, संभावनाएँ और समकालीन पुनर्पाठ

बौद्धिक स्वराज की अवधारणा जितनी प्रेरणादायी है, उतनी ही आलोचनात्मक परीक्षण की भी अपेक्षा करती है। किसी भी वैचारिक परियोजना का मूल्य उसकी घोषणाओं से नहीं, बल्कि उसकी बौद्धिक संगति, व्यावहारिक उपयोगिता और आत्मालोचन की क्षमता से निर्धारित होता है। यदि बौद्धिक स्वराज को केवल औपनिवेशिक अतीत की प्रतिक्रिया अथवा सांस्कृतिक अस्मिता के उद्घोष तक सीमित कर दिया जाए, तो वह अपनी रचनात्मक शक्ति खो देगा। इसके विपरीत, यदि इसे ज्ञान की बहुलता, आलोचनात्मक विवेक और स्वतंत्र बौद्धिक सृजन की परियोजना के रूप में समझा जाए, तो यह समकालीन शिक्षा और अनुसंधान के लिए एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक आधार प्रदान कर सकता है।

बौद्धिक स्वराज के समक्ष पहली चुनौती **अतीतवाद (Antiquarianism)** की है। भारतीय ज्ञान-परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया कभी-कभी अतीत के अनालोचित महिमामण्डन में परिवर्तित हो जाती है। ऐसी स्थिति में परम्परा को ऐतिहासिक अध्ययन की विषयवस्तु के बजाय निर्विवाद सत्य के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगता है। वस्तुतः भारतीय बौद्धिक परम्परा स्वयं इस प्रकार की दृष्टि का समर्थन नहीं करती। भारतीय ज्ञान-दृष्टि में सत्य की प्रतिष्ठा व्यक्ति अथवा प्राधिकार के आधार पर नहीं, बल्कि युक्ति, प्रमाण और विवेक के आधार पर की गई है। *योगवासिष्ठ* में कहा गया है - *"युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि। अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना॥"* अर्थात् युक्तिसंगत वचन बालक से भी ग्रहण कर लेना चाहिए, जबकि अयुक्तिसंगत कथन ब्रह्मा द्वारा कहे जाने पर भी उसका त्याग कर देना चाहिए (योगवासिष्ठ, 2022, निर्वाणप्रकरण-पूर्वार्ध, 18.3)। यह शास्त्रीय दृष्टि स्पष्ट करती है कि भारतीय ज्ञान-परम्परा का वास्तविक आधार अन्धस्वीकृति नहीं, बल्कि विवेकपूर्ण ग्रहणशीलता है। भारतीय बौद्धिक इतिहास भी निरन्तर संवाद, वाद-विवाद, पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष और पुनर्व्याख्या की परम्परा से विकसित हुआ है; अतः उसकी वास्तविक विरासत आलोचनात्मकता है, न कि अचिन्तित स्वीकृति। इसलिए बौद्धिक स्वराज का

आशय परम्परा के प्रति निःशर्त निष्ठा नहीं, बल्कि परम्परा और आधुनिकता - दोनों के प्रति समान रूप से समालोचनात्मक एवं विवेकपूर्ण दृष्टि विकसित करना है।

दूसरी चुनौती **ज्ञानात्मक संकीर्णता** की है। यदि बौद्धिक स्वराज को पश्चिमी ज्ञान के पूर्ण निषेध के रूप में व्याख्यायित किया जाता है, तो यह स्वयं उसी प्रकार के ज्ञानात्मक एकाधिकार को जन्म देगा जिसकी आलोचना औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श के संदर्भ में की जाती है। आधुनिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान और मानविकी ने विश्व-ज्ञान को महत्त्वपूर्ण योगदान दिए हैं। अतः प्रश्न किसी विशेष ज्ञान-परम्परा को अस्वीकार करने का नहीं, बल्कि ज्ञान के अधिक संतुलित, बहुलतापूर्ण और संवादात्मक स्वरूप की स्थापना का है। बौद्धिक स्वराज की सार्थकता इसी में है कि वह अनुकरण के स्थान पर समालोचनात्मक सहभागिता (critical engagement) को प्रोत्साहित करे।

तीसरी चुनौती **अकादमिक विश्वसनीयता** की है। भारतीय ज्ञान-परम्परा पर आधारित अनेक समकालीन विमर्शों में पर्याप्त स्रोत-समालोचना, पाठालोचन और ऐतिहासिक विश्लेषण का अभाव दिखाई देता है। परिणामस्वरूप अनेक बार ऐतिहासिक तथ्य, सांस्कृतिक स्मृतियाँ और लोकप्रिय धारणाएँ एक-दूसरे में मिश्रित हो जाती हैं। यदि भारतीय ज्ञान-परम्परा को वैश्विक अकादमिक जगत् में सम्मानजनक स्थान दिलाना है, तो उसके अध्ययन में वही बौद्धिक अनुशासन, स्रोत-समालोचना और प्रमाण-आधारित विश्लेषण अपनाना होगा जिसकी अपेक्षा किसी भी गंभीर शोध से की जाती है। बौद्धिक स्वराज की विश्वसनीयता भावनात्मक आग्रह से नहीं, बल्कि शोध की गुणवत्ता से निर्मित होगी।

समकालीन परिप्रेक्ष्य में बौद्धिक स्वराज की सबसे बड़ी सम्भावना यह है कि वह ज्ञान की बहुध्रुवीय (multipolar) व्यवस्था के निर्माण में योगदान दे सकता है। आज विश्व के अनेक भागों में यह स्वीकार किया जा रहा है कि ज्ञान का उत्पादन कुछ सीमित भौगोलिक क्षेत्रों तक सीमित नहीं है। स्थानीय समुदायों, स्वदेशी परम्पराओं, विविध भाषाओं और वैकल्पिक ज्ञान-संरचनाओं को भी वैश्विक ज्ञान-विमर्श में वैध स्थान मिलना चाहिए (सैंटोस, 2014)। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में भारतीय ज्ञान-परम्परा का पुनर्पाठ किसी राष्ट्रवादी आग्रह का विषय नहीं, बल्कि वैश्विक ज्ञानात्मक न्याय (Epistemic Justice) की परियोजना का एक महत्त्वपूर्ण आयाम बन सकता है। इस प्रकार बौद्धिक स्वराज का समकालीन पुनर्पाठ अतीत और वर्तमान, परम्परा और आधुनिकता, स्थानीय और वैश्विक, तथा

अनुभव और वैज्ञानिकता के मध्य किसी कृत्रिम द्वन्द्व की स्थापना नहीं करता। उसका मूल आग्रह इन सभी के मध्य विवेकपूर्ण संवाद स्थापित करना है। यही संवाद भविष्य की ऐसी ज्ञान-संस्कृति का आधार बन सकता है जिसमें विविध परम्पराएँ प्रतिस्पर्धी नहीं, बल्कि परस्पर समृद्धिकारक हों।

निष्कर्ष

औपनिवेशिक शासन के इतिहास का पुनर्पाठ यह स्पष्ट करता है कि उसका प्रभाव केवल राजनीतिक प्रभुत्व या आर्थिक शोषण तक सीमित नहीं था। उसने ज्ञान के स्रोतों, उसकी वैधता, उसके संगठन तथा उसके प्रसार की उन संरचनाओं को भी गहराई से प्रभावित किया जिनके माध्यम से समाज स्वयं को समझता और भविष्य की दिशा निर्धारित करता है। इसी कारण औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श की समीक्षा केवल इतिहास का विषय नहीं है; वह समकालीन शिक्षा, अनुसंधान और बौद्धिक जीवन से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ प्रश्न है। राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद भी यदि किसी समाज के ज्ञान-मानदण्ड, अनुसंधान-प्रतिमान और बौद्धिक प्राथमिकताएँ बाह्य संरचनाओं द्वारा संचालित होती रहें, तो उसकी स्वतंत्रता अधूरी मानी जाएगी।

इस आलेख से यह स्पष्ट होता है कि **बौद्धिक स्वराज** का आशय पश्चिमी ज्ञान-परम्पराओं के निषेध अथवा किसी प्रकार के ज्ञानात्मक पृथकतावाद से नहीं है। इसका वास्तविक उद्देश्य ज्ञान के क्षेत्र में स्वतंत्र विवेक, सांस्कृतिक आत्मविश्वास और आलोचनात्मक स्वायत्तता का विकास करना है। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, महात्मा गांधी, धर्मपाल और आशीष नंदी जैसे भारतीय चिन्तकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से इसी आवश्यकता की ओर संकेत किया है। इन सभी के विचारों में एक साझा तत्त्व यह है कि कोई भी समाज उधार लिए हुए बौद्धिक प्रतिमानों के आधार पर दीर्घकाल तक सृजनात्मक नहीं रह सकता। उसे अपने ऐतिहासिक अनुभवों, सांस्कृतिक संसाधनों और ज्ञान-परम्पराओं के आधार पर भी विश्व-ज्ञान में योगदान देने की क्षमता विकसित करनी होगी। इसी सन्दर्भ में भारतीय ज्ञान-परंपरा का महत्त्व केवल उसके प्राचीन होने में नहीं, बल्कि उसके ज्ञानमीमांसात्मक स्वरूप में निहित है। ज्ञान के विविध स्रोतों की स्वीकृति, संवादात्मक परम्परा, समग्र दृष्टि तथा ज्ञान और नैतिकता के अन्तर्सम्बन्ध जैसी विशेषताएँ समकालीन शिक्षा-विमर्श को महत्त्वपूर्ण वैचारिक आधार प्रदान कर सकती हैं। तथापि भारतीय ज्ञान-परंपरा का पुनर्पाठ तभी सार्थक होगा जब उसे ऐतिहासिक स्रोतों, दार्शनिक विश्लेषण और समालोचनात्मक विवेक के साथ

समझा जाए। परम्परा का पुनर्मूल्यांकन और परम्परा का महिमामण्डन - ये दोनों समानार्थी नहीं हैं। बौद्धिक स्वराज का सम्बन्ध पहले से है, दूसरे से नहीं।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 ने भारतीय ज्ञान परंपरा को शिक्षा के विमर्श में पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। यह एक महत्त्वपूर्ण पहल है, किन्तु इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि भारतीय ज्ञान परंपरा को केवल सांस्कृतिक परिचय अथवा प्रतीकात्मक उपस्थिति तक सीमित रखा जाता है या उसे अनुसंधान, ज्ञान-सृजन, अध्यापन और नवाचार की वास्तविक प्रक्रिया का अंग बनाया जाता है। यदि भारतीय विश्वविद्यालय आलोचनात्मक शोध, भारतीय भाषाओं में उच्चस्तरीय अकादमिक लेखन, प्रामाणिक पाठ-संपादन, अन्तर्विषयी अध्ययन तथा वैश्विक बौद्धिक संवाद के माध्यम से इस दिशा में कार्य करें, तो बौद्धिक स्वराज एक वैचारिक नारा न रहकर शिक्षा के पुनर्निर्माण की सशक्त परियोजना बन सकता है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक ज्ञान-विमर्श, बौद्धिक स्वराज और भारतीय ज्ञान-परंपरा - ये तीनों परस्पर पृथक विषय नहीं हैं, बल्कि एक ही बौद्धिक प्रक्रिया के तीन आयाम हैं। पहला आयाम उस ऐतिहासिक संरचना की पहचान कराता है जिसने ज्ञान के क्षेत्र में असमानताएँ उत्पन्न कीं; दूसरा उन असमानताओं से मुक्त होने की वैचारिक दिशा प्रदान करता है; और तीसरा एक ऐसी ज्ञान-दृष्टि की सम्भावना प्रस्तुत करता है जो बहुलता, संवाद, आलोचनात्मक विवेक और मानवीय उत्तरदायित्व पर आधारित है। वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में, जहाँ ज्ञान का लोकतंत्रीकरण और विविध ज्ञान-परम्पराओं की मान्यता एक महत्त्वपूर्ण अकादमिक प्रश्न बन चुके हैं, भारतीय बौद्धिक स्वराज की अवधारणा केवल भारत के लिए ही नहीं, बल्कि अधिक न्यायपूर्ण और बहुलतापूर्ण वैश्विक ज्ञान-व्यवस्था के निर्माण के लिए भी सार्थक वैचारिक योगदान दे सकती है।

संदर्भः

1. कोहन, बर्नार्ड एस. (1996). *कोलोनियलिज़्म एंड इट्स फॉर्म्स ऑफ नॉलेज: द ब्रिटिश इन इंडिया*. प्रिन्सटन: प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस.
2. क्विज़ानो, अनीबाल. (2000). *कोलोनियलिटी ऑफ पावर, यूरोसेंट्रिज़्म एंड लैटिन अमेरिका. नेपोन्तला: व्यूज़ फ्रॉम साउथ*, **1**(3), 533-580.
3. गांधी, मोहनदास करमचन्द. (2019). *हिन्द स्वराज* (मूल प्रकाशन 1909). अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन मंदिर.

4. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ. (1975). *अ हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी* (खंड 1) (मूल प्रकाशन 1922). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.
5. धर्मपाल. (1983). *द ब्यूटीफुल ट्री: इंडिजिनस इंडियन एजुकेशन इन द एटीन्थ सेंचुरी*. नई दिल्ली: बिब्लियोफाइल्स.
6. धर्मपाल. (2000). *इंडियन साइंस एंड टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेंचुरी*. गोवा: अदर इंडिया प्रेस.
7. नंदी, अशिस. (1983). *द इंटिमेट एनिमी: लॉस एंड रिकवरी ऑफ सेल्फ अंडर कॉलोनियलिज़्म*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
8. न्गुगी वा थ्योंगो. (1986). *डिकोलोनाइजिंग द माइंड: द पॉलिटिक्स ऑफ लैंग्वेज इन अफ्रीकन लिटरेचर*. लंदन: जेम्स करी.
9. फूको, मिशेल. (1980). *पावर/नॉलेज: सिलेक्टेड इंटरव्यूज़ एंड अदर राइटिंग्स, 1972-1977*. न्यूयॉर्क: पैंथियन बुक्स.
10. भट्टाचार्य, कृष्णचन्द्र. (2011). *स्वराज इन आइडियाज़* (मूल कृति 1931). नई दिल्ली: सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसाइटीज़.
11. भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय. (2020). *राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020*. नई दिल्ली: शिक्षा मंत्रालय.
12. महादेवन, बी., भट्ट, विनायक रजत, एवं नागेन्द्र पवना आर. एन. (2022). *इंट्रोडक्शन टू इंडियन नॉलेज सिस्टम: कॉन्सेप्ट्स एंड एप्लिकेशन्स*. नई दिल्ली: पीएचआई लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड.
13. मिग्नोलो, वाल्टर डी. (2011). *द डार्कर साइड ऑफ वेस्टर्न मॉडर्निटी: ग्लोबल फ्यूचर्स, डिकोलोनियल ऑप्शन्स*. डरहम: ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस.
14. योगवासिष्ठ. (2022). *योगवासिष्ठ* (निर्वाणप्रकरण-पूर्वार्ध). गोरखपुर: गीता प्रेस।
15. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली. (1996). *इंडियन फिलॉसफी* (खंड 1) (मूल प्रकाशन 1923). नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
16. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली. (2009). *एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ* (मूल प्रकाशन 1932). नई दिल्ली: हार्परकॉलिन्स इंडिया.
17. सईद, एडवर्ड डब्ल्यू. (2003). *ओरिएंटलिज़्म* (मूल प्रकाशन 1978). न्यूयॉर्क: पेंगुइन बुक्स.
18. सैंटोस, बोआवेंतुरा दे सूसा. (2014). *एपिस्टेमोलॉजीज़ ऑफ द साउथ: जस्टिस अगेंस्ट एपिस्टेमिसाइड*. बोल्डर: पैराडाइम पब्लिशर्स.